चाह

यशवंत पंवार[1]

जीवन के सुहाने उपवन में,
प्रसून पल्लवित सबकी चाह।
लेकिन चाह के चाहत में,
फूलों के पराग में चाह।।

परिणय सूत्र में आकर के,
सिर्फ सबको खुशबू की चाह।
मिली सुगंध मीठी लीली की,
फिर बन जाती गुड़हल की चाह ।।

लीली तुझको भी भाती है,
लीली मुझको भी भाती है।
फिर किसके मन में आ बैठी है,
धवल रक्तिम चाह गुड़हल की ।।

प्रश्न बड़ा जटिल, कुटिल है,
उत्तर एक सा नहीं किसी का।
कोई कहे उपवन की चाह,
कोई कहे माली की चाह है।।

लेकिन बात यहीं नहीं रुकती,
एक गण उन लोगों का भी है।
जो कहे तेरी, मेरी ,परिवेश की,
बनी परम्परा की चाहत है ।।

---

[1] सहायक प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजकीय महाविद्यालय, चिन्यालीसौड़, उत्तरकाशी, उत्तराखंड, (भारत)

द्विवज पांडित्य कर्मफल बताकर,
अनभिज्ञता उतराधिकार कहलाती ।
चाह के चाहत हेतु न जाने,
रोज़ कितनी लीली मुरझाती।।

सच पूछो तो, अरि लीली तुम्हारा,
लीली ही का पौधा है ।
गुड़हल की क्या हस्ती है जो,
तेरा कर सकता सौदा है।।

विद्वत्ता के इस रण में हम,
आज भी ख़ुदको परास्त पाते हैं।
चाह का पौधा जहां उगता है ,
उपवन वहीं उजाड़ते हैं।।।

लीली तुम जन्मदात्री हो,
त्रिभुवन भी यही गाता है।
फिर क्यों तेरे उद्भव पर,
जग हर्षित नहीं हो पाता है।।

अभिशाप तो नहीं शून्य का,
क्योंकि तुम विविध रूप रखती हैं।
या फिर गुड़हल के शासन को ,
तुम कुचल नहीं सकती हैं।

*****